

वैदिककालीन समाज के विविध आयाम : एक नूतन विमर्श

सत्येन्द्र कुमार सिंह

शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

सामान्यतः ऋग्वैदिक कालीन समाज में जटिलता देखने को नहीं मिलती है। ऋग्वेद से प्राप्त जानकारी के आधार पर इस काल का समाज समतामूलक समाज था, जिसका स्रोत हमें ऋग्वेद के नवें मण्डल से प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वर्ण शब्द का उल्लेख रंग के अर्थ में हुआ है। आर्यों को गौर वर्ण का बताया गया है और भारत के मूल निवासियों को अनार्य कहकर सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद में अनार्यों की कई विशेषता बताई गई है। अनार्यों को मृदवाक अर्थात् अपरिचित भाषा बोलने वाला, अनासः अर्थात् चपटी नाक वाला, अयज्वन अर्थात् यज्ञ न करने वाला, शिशन देव अर्थात् चपटी नाक वाला, अयज्वन अर्थात् यज्ञ न करने वाला, शिशन देव अर्थात् लिंग पूजा करने वाला तथा अदेवयुः अर्थात् वैदिक देवता को न मानने वाला बताया गया है।

ऋग्वैदिक कालीन संहिता के मूल भाग में तीन सामाजिक वर्गों पुरोहित (ब्रह्म) योद्धा (यत्र) तथा सामान्य जन का उल्लेख मिलता है। इनके सृजन का सबसे बड़ा कारण स्थानीय निवासियों पर आर्यों का आधिपत्य था। आर्यों द्वारा जीते गये दास और दस्यु, जन, दास (गुलाम) और शूद्र हो गये। ऋग्वेद में आर्य वर्ण और दास वर्ण का उल्लेख है। जीती गई वस्तुओं में कबीले के सरदारों और पुरोहित को अधिक हिस्सा मिलता था। स्वभावतः वे अपने गोतियों और भाई-बन्धुओं को वंचित करते हुए अधिकाधिक सम्पन्न होते गये। इससे कबीले में सामाजिक असमानता का सृजन हुआ। धीरे-धीरे कबायली समाज उपरोक्त तीन वर्णों में विभक्त हो गया। ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भिक युग में वर्ण व्यवस्था जैसी कोई संस्था नहीं थी। उस समय समाज के केवल दो जाति समूह थे— एक आर्य दूसरा अनार्य अथवा दास।¹ ऋग्वेद के परवर्ती मण्डल अर्थात् दसवीं मण्डल के पुरुष सूक्त में विराट पुरुष के विभिन्न अंगों से चार वर्णों की उत्पत्ति बताई गई है। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति को दैवीय स्वरूप में करने का आशय इसे सहजता से लोगों को स्वीकार कराना था। ऋग्वैदिक काल के अन्त में कृषि पेशा महत्वपूर्ण होने के साथ-साथ सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप को धारण कर रहा था।

ऋग्वेद में बढई, रथकार, बुनकर, चर्मकार, कुम्हार आदि शिल्पियों का उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि आर्य लोगों में इन सभी शिल्पों का प्रचलन था। ताँबे तथा कांसे के अर्थ में 'अयस' शब्द के प्रयोग से प्रकट होता है कि, उन्हें धातुकर्म की जानकारी थी। हाल ही में भगवानपुरा के एक व पंजाब के तीन स्थलों की खुदाई हुई है। इन सभी स्थलों से उत्तरकालीन हड़प्पाई मृदभाण्डों के साथ-साथ चित्रित धूसर मृदभाण्ड प्राप्त हुए हैं। भगवानपुरा से प्राप्त वस्तुओं का काल 1600 ई० पू० से 1000 ई० पू० निर्धारित किया गया है और लगभग यही काल ऋग्वेद का भी है। इन स्थलों का भौगोलिक क्षेत्र भी वही है जो ऋग्वेद के पर्याप्त अंश में मिलता है। इन सभी स्थलों से चित्रित धूसर मृदभाण्ड तो मिले हैं पर लोहे

के प्रमाण नहीं मिलते जिससे इसे लौह पूर्व अवस्था के अंतर्गत रखा जाता है। भगवानपुरा से एक तेरह कमरों वाला मिट्टी का घर भी मिला है।

लोहे से परिचय होने के कारण समाज में क्रांति का दौर आया होगा तेजी से जंगल कटे होंगे और कृषि का विस्तार हुआ होगा। ऋग्वैदिक एवम् परवर्ती वैदिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि वैदिक लोग लगभग 1000 ई० पू० के आसपास पूर्व दिशा की ओर तीव्रता से अग्रसित हुए। इस कार्य में उनके प्रिय पशु अश्व का विशेष योगदान था। गंगा-यमुना के मैदान में पहुंचने पर नये सामाजिक वर्गों (अनार्य) एवम् नये पर्यावरण से परिचय हुआ। पश्चिमी उत्तर प्रदेश वही क्षेत्र था, जहाँ लौह तकनीक का प्रारम्भिक प्रमाण चित्रित धूसर मृदभाण्ड परम्परा (PGW) के द्वितीय चरण से मिलता है, जिसकी कालावधि C-14 तिथियों के आलोक में 1100-500 ई० पू० के मध्य रखी गयी है।

गंगा-यमुना घाटियों में आगमन के बाद आर्यभाषी लोगों का अनार्य संस्कृतियों के साथ सम्पर्क हुआ जिसके फलस्वरूप दो प्रकार के बदलाव परिलक्षित होते हैं—

1. वैदिक भाषा का उत्तरोत्तर प्रभाव अनार्य भाषाओं पर पड़ा। इसके दो कारणों पर विचार की आवश्यकता है—
(अ) वैदिक संस्कृति एक परिपक्व भाषा थी, जिसके द्वारा अनेक गहरे भावों की अभिव्यक्ति संभव थी।
(ब) वैदिक लोग प्रारम्भिक काल से पशु-यायावर जीवन शैली से सम्बन्धित थे। ऐसे लोगों का एक बड़ा वर्ग घुमन्तू होने के साथ-साथ स्थायी कृषक समाजों के निकट सम्पर्क में रहे एवं पशुओं (गाय, बैल, घोड़ा) के साथ सालाना दीर्घ दूरियाँ तय करते थे। बीच में जो भी पड़ाव पड़ते थे वहाँ अलग-अलग बोली बोलने वाले आर्य/अनार्य भाषी लोगों की सहायता भी करते थे। जैसे-कृषि अधिशेष व अन्य सामग्रियों का वितरण, संदेश वाहन/सम्प्रेषण आदि। इन पशुचारियों के लिए बीच के पचास पड़ावों की अलग-अलग अनार्य भाषाओं को सीखना कठिन था। परन्तु, उनकी एक (आर्य) भाषा को समझना उन पड़ावों के लोगों के लिए अपेक्षाकृत सरल था एवम् मजबूरी भी। इसके आलोक में प्रो० कोलिन-रेनफ्यू की प्रसिद्ध थीसिस 'ऑर्किडियाजली एण्ड लैंग्वेज' में यह प्रतिपादन कि आर्य भाषाओं का विसरण (Dispersal) हुआ।
2. उत्तर वैदिक कालीन अवस्था (1000-500 ई० पू०) तक आते-आते वैदिक संस्कृति का स्वरूप परिवर्तित हुआ और यह परिवर्तन भारत में ही नहीं अपितु विश्व के लगभग सभी देशों में देखने को मिलते हैं। इस अवस्था को कार्ल जेम्सर्स महोदय ने "एक्सियल एज" (Axial age b.c. 800-200) के रूप में परिभाषित किया है। वैदिक परिप्रेक्ष्य में भी यही समय था जब उपनिषदों के माध्यम से हम कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड की ओर

अग्रसर हुए जहाँ मुण्डकोपनिषद् में यज्ञों को टूटी नौकाओं के समान बताया गया है। उपनिषदों के सम्बन्ध में एमरी डीरेनकोर्ट का मत है कि उपनिषद काल भारत में सांस्कृतिक विकास के सर्वोच्च काल का प्रतिनिधि है। जबकि शापेनहावर महोदय ने इसको संसार का सर्वाधिक लाभदायक व ऊँचा उठाने वाला साहित्य कहा है।

ऋग्वैदिक काल में वर्णव्यवस्था कर्म पर आधारित थी, अर्थात् कोई भी व्यक्ति कर्म या पेशा बदलकर वर्ण बदल सकता था। जैसे विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी कर्म से पुरोहित थे। ऋग्वैदिक कालीन समाज का आधार रक्त सम्बन्ध था। समाज पितृ सत्तात्मक था कुल या परिवार का ज्येष्ठ व्यक्ति होता था। ऋग्वैदिक काल में दास प्रथा के प्रचलन का साक्ष्य दृष्टिगत होता है। लेकिन इनकी स्थिति समाज में सम्मानजनक थी।

जैसा कि आमतौर पर पशुचारी पितृसत्तात्मक समाज में होता है, ऋग्वैदिक देवमंडल मुख्यतः पुरुष देवताओं का वर्चस्व था।² ऋग्वैदिक काल में पितृसत्तात्मक समाज होते हुए भी बाल विवाह, सतीप्रथा जैसी कुरीतियाँ विद्यमान नहीं थी। वहीं समाज में बहुपति प्रथा प्रचलित होने की जानकारी प्राप्त हुई है। जैसे— 'मारुत' देवताओं की एक ही पत्नी रोदसी थी। महिलाओं को नियोग—प्रथा अपनाने की अनुमति थी। ऋग्वेद में अनेक विदुषी महिलाओं— घोषा, अपाला, विश्ववरा, सिक्ता, लोपामुद्रा आदि का उल्लेख मिलता है, जिन्हें ऋग्वेद मंत्रों का द्रष्टा भी माना जाता है। ऋग्वेद में ऐसी भी महिलाओं का उल्लेख मिलता है, जो आजीवन अविवाहित रहते हुए पिता के घर पर उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी, इन्हें ब्रह्म वादिनी कहा जाता था।

इस काल के लोग शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों का भोज्य पदार्थ के रूप में प्रयोग करते थे। पहनावे के लिए इस काल के लोग तीन प्रकार के वस्त्रों का प्रयोग करते थे, 'नीवी', 'वास' एवं 'अधिवास' जो क्रमशः कमर के नीचे पहना जाने वाला वस्त्र, कमर के ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र एवं ऊपर से धारण करने वाला वस्त्र था। पुरुष एवं स्त्री दोनों आभूषण धारण करते थे। प्रमुख आभूषणों में निस्क, कर्णफूल, बाजूबन्द आदि का उल्लेख मिलता है।

समाज अपनी परम्परागत अवस्था में बहुत दिनों तक न चल सका, जिसके परिणाम स्वरूप वैदिक समाज में परिवर्तन के साक्ष्य स्पष्ट रूप से उत्तरवैदिक समाज में परिलक्षित हुए। उत्तरवैदिक समाज अपने पूर्ववर्ती समाज की अपेक्षाकृत अधिक जटिल था। इस काल के समाज की मूल विशेषता रक्त सम्बन्धों के आधार पर वर्ण व्यवस्था में कठोरता आ जाना था। प्रारंभ में वर्ण को बड़ी इकाई माना जाता था और एक वर्ण में अनेक जातियाँ हो सकती थीं।³ इस काल में वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित हो गयी, वर्णों का जाति में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ। जिसके परिणाम स्वरूप चारों वर्णों के कर्म का निर्धारण हुआ। जाति के अनुरूप कर्तव्यों का निर्धारण आवश्यक हो गया था। ब्राह्मण का कर्तव्य यज्ञ करना, शिक्षा देना एवं क्षत्रियों का कर्तव्य—शस्त्र धारण करना तथा समाज की रक्षा करना बताया गया है। वैश्यों को दूसरों को कर देने वाला बताया गया है तथा शूद्र को अन्य तीनों का सेवक बताया गया है, जो वैदिक समाज में परिवर्तन के साक्ष्य हैं।

उत्तर वैदिक कालीन समाज में चारों वर्णों में भेदभाव परिलक्षित होने लगे चारों वर्णों के लिए अलग-अलग सम्बोधनों से यह स्पष्ट होता है। शूद्रों को छोड़कर ऊपर के तीनों वर्णों— ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को द्विज के अन्दर रखा गया तथा इन्हें उपनयन जैसे संस्कारों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। उत्तरवैदिक काल के अन्त तक आते-आते ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के बीच तनाव उत्पन्न होने का विवरण मिलता है। क्षत्रिय की भूमिका काफी बढ़ चुकी थी,

क्योंकि कृषि व्यवसाय महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रहा था। 'शतपथ ब्राह्मण' में एक स्थान पर क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताया गया है। उत्तरवैदिक समाज में शूद्रों को वेद पढ़ने या यज्ञ करने का अधिकार नहीं प्राप्त था। अपवाद स्वरूप 'शतपथ ब्राह्मण' में शूद्रों को सोम यज्ञ में भाग लेने की अनुमति प्रदान की गई थी। 'मैत्रायणी संहिता' में कुछ धनी शूद्रों का भी उल्लेख मिलता है, इनमें रथकार जैसे शिल्पी शामिल थे।

उत्तरवैदिक कालीन ग्रन्थ 1000 से 500 ई0पू0 में उत्तरी गंगा के मैदान में रचे गये, उत्खनन और अनुसंधान के फलस्वरूप इसी काल और इसी क्षेत्र के लगभग 700 स्थल प्रकाश में आये हैं। जहाँ सबसे पहले बस्तियाँ कायम हुई, इन्हें 'चित्रित धूसर मृदभाण्ड' स्थल कहते हैं। यहाँ के लोग लोहे का प्रयोग भी करते थे। 'चित्रित धूसर मृदभाण्ड' व लौह अवस्था के संयुक्त साक्ष्य से ई0पू0 प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में पश्चिमी उ0प्र0, हरियाणा, पंजाब व राजस्थान के संलग्न क्षेत्रों में अधिकतर आबादी आकर बस गयी।

पंजाब से वैदिक कालीन जनसंख्या का विस्थापन गंगा के उपजाऊ मैदान की तरफ हुआ जहाँ वैदिककालीन दो प्रमुख कबीले भरत और पुरु मिलकर कुरु कहलाये। ऊपरी गंगा के मैदानों में जंगलों को साफ करने के लिए लोहे की कुल्हाड़ी से काम लिया गया तथा बाद में कृषि हेतु हल के फाल के रूप में भी इसका प्रयोग किया गया। कृषि का विकास इस काल में समग्रता के साथ हुआ व अधिशेष के माध्यम से सामाजिक विकास की गाथा लिखी गयी और उत्तर वैदिक समाज एक विलासी जीवन की ओर अग्रसर हुआ।

उत्तर वैदिक समाज में 'गोत्र-प्रथा' प्रचलित हुई, जिसके अन्तर्गत समान रक्त वर्ण वाले व्यक्तियों के बीच विवाह सम्बन्ध वर्जित हो गया। 'गोत्र' शब्द का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। एक ही मूल पुरुष से उत्पन्न व्यक्ति एक ही गोत्र के माने गये। इस काल में महिलाओं की स्थिति में गिरावट के साक्ष्य परिलक्षित होने लगे थे, उनका सभा एवं समिति की बैठकों में भाग लेना प्रायः वर्जित हो गया। उत्तर वैदिक ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं, लेकिन एक स्त्री के एक से अधिक पति नहीं हो सकते थे। स्पष्ट है कि इस काल में बहुपति प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। मैत्रायणी संहिता में पासा एवं सुरा के साथ-साथ स्त्री को तीसरी सामाजिक बुराई बताया गया। अथर्ववेद में एक स्थान पर मृत व्यक्ति के एक चिता पर उसकी पत्नी को लिटाए जाने पर एवं पुनः उठा लिए जाने का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों ने इसे सती प्रथा का संकेत माना है। इससे स्पष्ट होता है कि महिलाओं की स्थिति में गिरावट उत्तरवैदिक समाज में परिलक्षित होती है। इसके बावजूद उत्तरवैदिक साहित्य में गार्गी जैसी विदुषी महिलाओं का उल्लेख मिलता है, जिसने शास्त्रार्थ में याज्ञवल्क्य जैसे ऋषि को पराजित किया था। उत्तरवैदिक काल में आश्रम व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है, लेकिन संन्यास आश्रम उत्तरवैदिक काल में प्रतिष्ठा नहीं पा सका था। सर्वप्रथम चारों आश्रमों का उल्लेख परवर्ती वैदिक कालीन ग्रन्थ जबालोपनिषद में मिलता है। ये प्रथाएं आगे चलकर और मजबूती के साथ समाज में प्रचलित हुई जो आज के समाज में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक कालावधि में वैदिक समाज के विकास में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अध्ययन की सम्भावना विद्यमान है, उन्हें प्रकाशित एवं पुनर्परिभाषित किये जाने की आवश्यकता है।

उत्तरवैदिक कालीन ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि लोहे का प्रयोग 1000 ई0 में प्रारम्भ हुआ। ऋग्वैदिक सैनिक गतिविधियाँ ऐतिहासिक जान पड़ती हैं। क्योंकि उनका श्रेय इंद्र देवता को नहीं

बल्कि मानवों, वीरों अथवा राजाओं को दिया गया है।⁴ लोहे का प्रयोग सैनिक वर्ग के अलावा कृषि क्षेत्र में भी किया। कृषि क्षेत्र में लोहे के प्रयोग के चलते कृषि कार्यों को करने में सहजता हुई; जिससे कृषि अधिशेष ने ही व्यापार एवं व्यवसाय को पनपने का मौका दिया, जिसके कारण आर्थिक सम्पन्नता विकसित हुई। आर्थिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और वैदिक समाज को विविधता प्रदान किया।

संदर्भ :

1. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, 2006, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, पृ0 73
2. झा, डी0एन0, आरंभिक भारत का संक्षिप्त इतिहास, 2009, मनोहर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 63
3. शर्मा, रामशरण, प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, 2011, हि0मा0का0नि0दि0वि0वि0, दिल्ली, पृ0 43
4. कोसंबी, डी0डी0, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, 1999, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 108